

## ब्रिटिशपूर्व काल में भूमि स्वामित्व का अधिकार

—राकेश कुमार शर्मा,

सहायक प्रोफेसर, इतिहास, राजकीय महाविद्यालय, नारायणगढ़

“भारतीय समाज, संस्कृति आदि की व्याख्या औपनिवेशिक ढांचे में हुई है। इसलिए अधिकतर सिद्धान्त इन ढांचों के अनुरूप ही रहे होंगे।”—रोमिला थापर

भूमि पर किसका अधिकार था और यह अधिकार कैसे तय होता था? भारतीय इतिहास व संस्कृति को समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न बिन्दू हो सकता है। इससे धर्म, राज्य व समाज को समझना आसान रहेगा। इसको समझे बिना जाति के उद्भव व कार्य-प्रणाली को समझा नहीं जा सकता। कृषीय सम्बन्धों के क्षेत्र में ही समाज व्यवस्था की नींव का पता लगाया जा सकता है। भूमि प्रणाली पर विचार किए बिना कृषीय संबंधों, कृषीय संकट व समाज व्यवस्था का अध्ययन असंभव है। यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि वर्तमान समय में जातियों के पिछड़ापन तय करने के लिये जमीन का स्वामित्व भी एक महत्वपूर्ण पैमाना है। औपनिवेशिक व्यवस्था ने अपने आपको यहीं मजबूत बनाया था। इसी क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए थे। (पहले जातियों में सोपान या भेद भूमि आधारित नहीं थे। परम्पराएं, रिवाज, विवाह, पूजा के ढंग आदि के आधार पर विविधता व विभिन्नता थी) भूमिहीन लोगों को प्रायः वंचित जातियों में ही शामिल किया जाता है। उन्हें निम्न समझा जाता रहा है। यह भी कहा जाता रहा है कि निम्न जाति के लोगों के पास जमीन स्वामित्व के अधिकार नहीं थे। उन्हें जमीन पर अधिकार करने से रोका गया।

क्या भारत में भूमि पर राजा का अधिकार रहा है? क्या वह उसकी सम्पत्ति नहीं थी या राजा का अधिकार उससे सिर्फ कर लेने का था? काणे ने मनुस्मृति के अंशों की चर्चा करते हुए कहा है कि “मनु का मत था कि खेती योग्य भूमि के स्वामी खेतीहर ही थे और राजा को उस भूमि के उत्पादन का कुछ भाग लेने का अधिकार था।” देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने ताम्र पट्टिकाओं का अध्ययन कर कहा है कि ये भूमि के निजी स्वामित्व की धारणा के विरुद्ध पके प्रमाण हैं। अभिलेखों में राजा द्वारा भूमि दान देने का उल्लेख है। इन्हीं अभिलेखों का देवीप्रसाद ने अवलोकन किया है और इसमें स्पष्ट है कि जमीन को खरीदने के लिए जिले/क्षेत्र के मुख्य व्यक्तियों की अनुमति लेना जरूरी बताया गया है परन्तु मूल्य किसको दिया गया और किस उद्देश्य के लिए? मौजूदा सम्पत्ति नियमों के अनुसार अनुमति देने वाला ही स्वामी है और उसी को मूल्य चुकाया जाना चाहिए। यह राशि उसकी निजी होगी। परन्तु यहां राज्य को उत्पादन का छठा भाग कानून के अनुसार भेंट देने का वादा किया गया है। इन ताम्र पत्रों पर मुख्य व्यक्तियों आदि द्वारा दी गई अनुमति से क्या अभिप्राय लिया जाना चाहिए। खरीद के लिए उनकी अनुमति की क्या आवश्यकता है जबकि न उन्हें कर प्राप्त होता है और न मूल्य। यहां यह बात सिद्ध हो रही है कि भूमि पर राजा का

अधिकार नहीं है। वह जमीन के मामले में सम्प्रभु नहीं है। भूमि पर पहला अधिकार उस के आस-पास रहने वाले लोगों का है जो उस पर निर्वाह करते थे चाहे वे कृषक हो या कोई और। समुदाय सम्प्रभु था। सामुदायिक नियम इसे संचालित करते थे। राजा भी बाहरी व्यक्ति है। इसलिए स्थानीय लोगों की अनुमति के वगैर भूमि पर बाहर का आदमी नहीं आ सकता था। इस बात को स्वीकार करके ही अगले नतीजे निकाले जाने चाहिये। राजा और जनता में लगान का सम्बन्ध रहा है। इसमें कितनी नियमितता थी इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत है। यह बात क्योंकि राजा को लगान देने की जिम्मेवारी मुखिया की थी परन्तु इस भूमि पर लगान देने की जिम्मेदारी से मुखिया मुक्त हो गया और उस व्यक्ति को लगान देने की गारन्टी लेनी थी। राजा उस भूमि पर लगान माफ भी कर सकता था जैसा कि अनुदान अभिलेखों से पता चलता है। राजा द्वारा भू-अनुदान से अभिप्राय, कर न लेने से था। डी.डी.कौशाम्बी के अनुसार "ऐसा कभी नहीं सुनने में नहीं आया कि उन दिनों में कोई सामान्य व्यक्ति भूमि वेचता था।" भारत में भूमि निजी सम्पत्ति का हिस्सा नहीं रही है। भूमि पर सामूहिक स्वामित्व रहा है। विल्सन को उद्धृत करते हुए देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने कहा है कि "17वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में औरंगजेब के दरवार में आने वाले यूरोपिय पर्यटकों ने सर्वसम्मति से यह कहा है कि भारत में निजी स्वामित्व वाली भूमि नहीं थी।" देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय भारत में यह जन-जातीय अवशेष के रूप में कहे या भारत की प्रमुख विशेषता के रूप में ले। भारत की धरती पर जनजाति का या उसके उपविभागों का स्वामित्व था। इसमें ग्रामीण समाज कबीला या गाँव में वसे विरादरी के अन्य लोगों को मित्कियत थी, जमीन कभी भी राजा की संपत्ति नहीं समझी गई। मेन ने जैसा कि कहा है कि भूमि के स्वामित्व की अवधि के पट्टे और कृषि कार्यों के पारस्परिक अधिकारों के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है।' जून 1853 ई. में एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा कि 'समस्त पूर्व को समझने की कुंजी यह है कि वहां जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं है। "सामूहिक स्वामित्व के ऐशियाई और खासतौर से भारतीय स्वरूपों का वारीकी से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि किस प्रकार आदिम साम्यवाद के विभिन्न रूपों से इसके विघटन के विभिन्न रूप विकसित हुए।"—मार्क्स

आर.एस.शर्मा के अनुसार 7वीं शताब्दी के पहले हिस्से में अधिकतर शुद्र कृषक बन चुके थे। जमीन की खरीद-फ़ोख्त नहीं थी। "न तो जमींदारी न ही सामंती आचरण का प्रश्न है। कबीलाई परम्परा के अनुसार मुखिया या बड़ों की सभा जमीन का विभाजन करती थी। जमीन में निजी सम्पत्ति की संभावना कम थी। अर्थशास्त्र में, जो सम्पत्ति के उत्तराधिकार की बात करता है। जमीन का वर्णन नहीं है, न घर का। पूर्वजों की जमीन पर संयुक्त परिवार का चलन था। राजाओं द्वारा गाँवों से लिए जाने वाले राजस्व के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख है। मनु इसे भाग या कर कहता है।

बेडन पावेल बैसे तो भूमि के संयुक्त स्वामित्व को नहीं मानते फिर भी रैयतबाडी ढंग के गाँवों के बारे में कहते हैं कि 'वहां हमें लगभग सभी में जनजातीय सामाजिक स्थिति के लक्षण दिखाई देते हैं—विस्तृत क्षेत्र के इलाके कबीलों में बंटे हुए थे और प्रत्येक इलाके में कई गाँव थे। प्रत्येक गाँव का अपना मुखिया या सरदार था।'

भारत में प्रयाप्त उपजाऊ भूमि रही है। किसान एक स्थान की उपजाऊ शक्ति खत्म होने पर या किसी और कारण जैसे बाढ़, सुखा या महामारी आदि के कारण एक स्थान छोड़ कर दूसरे पर खेती करना शुरू कर देते रहे थे। इरफान हवीव ने भी इस बात की पुष्टि की है। इरफान हबीब के अनुसार *“मुगल काल की रोचक विशेषता किसानों की गतिशीलता थी, और शहरों की सहायता थी। बाबर की प्रायः प्रयोग करने वाली उद्धरण कि भारत में गांव व यहां तक की शहर भी क्षणों में उजड़ते और बसते हैं।”* इसी तर्क के आधार पर हम पीछे चले तो पायेंगे कि प्राचीनकाल में काफी बड़ी मात्रा में जमीन उपलब्ध थी। लोगों की निर्वाह के लिए जरूरते कम थी परिणामस्वरूप कृषक समुदाय व गैर-कृषक समुदाय को आसानी से जीवन-निर्वाह की वस्तुएं उपलब्ध हो जाती थी। भारत में गैर-कृषक समुदायों का कृषक बनना और उत्पादन व्यवस्था तथा सामाजिक संगठन में परिवर्तन की प्रक्रिया लम्बी व लगातार चलाती रही है। भूमिछिन्दान्याय – जमीन उसी की है जो उसे साफ करता है, हिरण उसी का जो उसपर पहले निशाना लगाता है।

खुद जमीन साफ करके खेती करना किसान को स्वायत्ता देता है। गैर-कृषक समुदायों को भी खेती करने के लिये मौका देता है। जमीन का जब कोई स्वामी नहीं है तो किसान किसी पर निर्भर नहीं है जैसे यूरोप में जमीन राज्य की है तो कृषक गुलाम बन सकता है। परन्तु भारत में कृषक उत्पादन-प्रक्रिया के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहा। उत्पादन के साधनों को प्राप्त करनेव उनके प्रयोग की योजना में राज्य की कोई भूमिका नहीं थी। वह स्वायत्त था इसलिए उत्पादन कम होने या न होने की दशा में वह किसी व्यक्ति या संस्था को दोषी नहीं ठहराने केस्थान पर किस्मत को दोषी मानता था। लेकिन अगर राजा या मुखियां परम्परा से ज्यादा लगान मांगती थी तो वह उसका विरोध करता था।

उत्पादन की योजना व उसमें शामिल प्रक्रिया समाज की चेतना का निर्माण करती है। यह एक समुदाय के दूसरे समुदाय के साथ, समुदाय के अन्दर एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ संबंधों को तय करती है। उत्पादन प्रक्रिया में व्यक्तिगत श्रम व सामूहिक श्रम की जरूरतें व्यक्ति को समूह के साथ जोड़ती थी और उत्पादन प्रक्रिया की स्वतंत्रता समूह को आत्मनिर्भर बनाती थी जिसमें वह राज्य और दूसरे समुदायों से अलग व स्वतंत्र विकसित होता था। उनसे स्वतंत्र होता था। वह अपने रीति-रिवाजों, परम्पराओं को अपने ढंग से मानने के लिये स्वतंत्र था। लेकिन व्यक्ति समुदाय के अन्दर उसके नियमों से बंधा हुआ था। उत्पादन प्रक्रिया की योजना में स्वतंत्रता, वेशी मूल्य का गैर-उत्पादक गतिविधियों में लगाना, भारत के सामाजिक संगठन को लचीला व कठोर दोनों बनाता है परिणामतः राज्य और धर्मसंगठित रूप नहीं हो पाये। तब जाति-व्यवस्था का ढांचा कठोर, बिना परिवर्तन के कैसे रह सकता था। अखिल भारतीय स्तर व स्थानीय स्तर पर एक जैसा कैसे संचालित हो सकता था।

कृषक समुदाय से ही स्थाई ग्राम समुदाय का निर्माण होता है। आज तक ग्राम समुदाय की अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर रही है। ये ग्राम समुदाय कुनबे पर आधारित थे जो जमीन के सांझे मालिक थे। इनमें सहकारी जीवन था। *“विल्क्स, कैपबैल और मेन जैसे लेखकों ने राजस्व तथा बंदोवस्त संबंधी रिपोर्टों को मुख्य आधार बनाते हुए निष्कर्ष निकाला कि परम्परागत भारतीय ग्राम समुदाय के सभी सदस्य*

भूमि के संयुक्त स्वामी होते थे।" ये पितृ-प्रधानसमुदाय थे। समुदाय का मुख्य पुरुष होता था। यह पितृ-सत्ता की जीत, कृषि में हल के प्रयोग, सभ्यता के विकास, धर्म व राज्य के विकसित होने का प्रतीक है।

यह परम्परागत नियमों से बंधा समुदाय रहा है। हर एक कुनबे में एक मुखिया (कुल-पिता) होता था और बाहरी आदमी कुनबे में दाखिल नहीं हो सकता था। मुखिया के अधिकार क्या थे? उन अधिकारों का स्रोत क्या था? यह कभी इतिहास या समाज अध्ययन में शामिल नहीं किये गये। मुखिया परम्परागत नियमों का रखवाला था। परम्परा का निर्वहन करवाना उसका मुख्य कार्य था। कुनबे में होने वाला प्रत्येक कार्य रिवाजों और परम्परा के अनुसार होना जरूरी है। झगड़ों को निपटाना भी इसका काम था। यह धार्मिक विश्वास ही था। इसलिये कुनबे के मुखिया को हर रिवाज व परम्परा से परिचित होना आवश्यक था। परिवार की बात बाहर न पता चलने देना बहुत महत्वपूर्ण नियम था। यह परिवार की एकता दर्शाता था। ऐसा ही ग्राम-समुदाय के साथ था। पंचायत या बड़ों की सभा भी परम्परागत नियमों से चलती थी। ये परम्परागत नियम गांव को जोड़े रखते थे। परम्परागत नियम भारतीय ग्राम-समुदाय के सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता और जिम्मेदारी सुरक्षित करते रहे हैं।

ये ग्राम समुदाय इतिहास के विभिन्न चरणों पर स्थित थे जो एक को दूसरे से अलग करते थे। परम्परा पर आधारित मूल्य थे। भारत में ग्राम समुदाय के नियम ही जमीन के कानून थे। भारत में एक ही समय में विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाएं आस्तित्व में रही हैं परिणामतः इनसे जुड़े विश्वास भी समाजिक शक्ति के रूप में आस्तित्व में रहे हैं। यह इस बात को दर्शाता है कि शिकार और खेती के बीच संक्रमण की अवस्था लम्बे समय तक बनी रही। यह भी संभव लगता है कि खेती से वापिस दूसरे आदिम व्यवसायों की तरफ वापिस गया हो। हम इस को इस प्रकार ले सकते हैं कि ग्राम समुदाय के चारों ओर ऐसे समुदाय भी थे जो अभी कृषि की ओर अग्रसर नहीं हुए थे। जंगलों पर आश्रित थे। जो शिकारी, संग्राहक, पशुचारी, मछली-पकड़ने से अपना निर्वाह करने वाले समुदाय थे। इन समुदायों के विश्वास, परम्पराएं भिन्न थीं।

ग्राम समुदाय का अध्ययन करते हुए हमें परसीवल स्पीयर की यह बात जरूर ध्यान रखनी चाहिए कि सबसे आसान गलती है कि हम कल्पना करते हैं कि सारे भारत के गाँव एक जैसे हैं। परन्तु ग्रामीण जीवन न सिर्फ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अलग-अलग है परन्तु एक काल से दूसरे काल में भी अलग है।" एक ही समय में विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में स्थित ग्राम समुदाय मिलते हैं। भौगोलिक विभिन्नता ने इसको और बढ़ाया है।

मेटकॉफ ग्रामीण समुदाय की छोटे-छोटे गणतंत्र कहता है। उनकी जरूरत की सभी चीजे उनके पास हैं और विदेशी सम्बन्धों से बिलकुल स्वतंत्र हैं। भारतीय गाँवों को मार्क्स आत्मनिर्भर बताता है। ये अपनी शासक खुद है। श्रीनिवास यह मानते हैं कि आत्मनिर्भर ग्राम एक मिथक है, साथ ही वह यह मानते हैं कि अलगाव और स्थाईत्व ग्रामीण समुदाय की विशेषता रहा है।

ग्राम समुदाय अपने आप में एक अलग ईकाई रहा है। जिसमें सभी कृषक जमीन के सांझे मालिक थे। मुखिया राजा की तरह काम करता था। न्यायधीश व लगान ईकट्टा करने का काम मुखिया करता था। लोगों की बफादारी अपने विश्वासों व रिवाजों के साथ थी और है। मुखिया या बडेरा समुदाय की विश्वासों, मुल्यों-मान्यताओं का न्यासी होता था, जानकार होता था। दूसरे समुदाय या राजा के साथ व्यवहार करने के लिए मुखिया ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था और उसके फैसले को सभी अपना फैसला मानते थे। राजा का कोई दखल नहीं था। किसी राजा के गद्दी बैठने या हटने का समुदाय को न कोई उत्साह था और न कोई दुख। ग्राम समुदाय अपने नियमों के आधार पर ईकट्टा रहता था। स्थानान्तरण की दशा में भी यह कुछ परिवर्तनों के साथ ईकट्टा रहता था।

आधुनिक पूंजीवादी विचारों से देखे तो जमीन में निजी सम्पत्ति का कोई आधार नजर नहीं आता, बेचने व खरीदने के लिए। सबसे पहले स्थान पर, अधिकतर कृषक कबीलाई चरण से उभरे थे जहां जमीन सिर्फ क्षेत्र था, जबकि हल व पशुओं की खाद का प्रयोग करने की शुरुआत तक आदिम काटने और जलाने की विधि ने खेती के लिए व्यक्तिगत खेतों को अप्रयोगी बनाये रखा। दूसरे खेत का स्वामित्व, चाहे खेत में खेती के अधिकार के लिए ही यह समुदाय की सदस्यता का चिह्न व विशेषाधिकार था। जाति-निकाला से ही किसान की जमीन पर खेती करने का अधिकार खो सकता था। जबकि साफ न की हुई, वंचित, बची हुई जमीन पर भी खेती हो सकती थी। राजा को कर देकर या पिछली ग्राम समुदाय को कुछ धन देकर, जब तक कि नये वसने वाले अपना अलग समुदाय न बना ले। इस प्रकार की प्रक्रियाएं मुगल काल तक, स्थानीय बदल के साथ चलती रही है हम यह कह सकते हैं कि भारत में भू-सम्पत्ति का आस्तित्व न था इसलिए भारत में कभी सामंती व्यवस्था न तो समाज-व्यवस्था का और न ही शाही योजना का हिस्सा बन पाई।

नेतृत्व नीचे से भी उभरता था और उभरा हुआ नेतृत्व दूसरे क्षेत्रों में नीचे की ओर भी छान्ति होता था।

जमीन सुधार प्रक्रिया की तकनीक समाजिक व्यवस्था को निर्धारित करती है अगर वह पिछड़ी हुई है तो सामूहिक गतिविधियों की ओर, अगर विकसित है तो व्यक्तिवाद को बढ़ावा देती थी। इससे बड़ी रिश्तेदारी के परिवार का बनना व टूटना तय होता है।

भारत का कृषक इतिहास आजाद किसानों से भरा हुआ है। स्वायत्त किसान से अभिप्राय उन कृषकों से है जो कृषि पर निर्वाह करते थे और जिनके पास स्थान-परिवर्तन का भौतिक आधार उपस्थित था। भारत में बलपूर्वक श्रम राजनीतिक व प्रशासनिक शक्तियों का प्रकटीकरण है, न कि सामाजिक शक्तियों का। यह उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा नहीं था। खेती की परिस्थितियां, भूमि पर निजी स्वामित्व कायम करने के अनुकूल नहीं थी। थोड़ी भूमि पर थोड़े श्रम से काम चल जाता था। इसलिए ज्यादा श्रम की मांग यहां नहीं रही है। न श्रम खरीदने की जरूरत थी और न बेचने की। इसलिए किसानों को दास बनाने की जरूरत नहीं थी। राजा का लक्ष्य था कि खेत लगातार जुतते रहे, तभी उसे लगान की आवश्यकता पूर्ति होती थी। किसानों और शासक के बीच संघर्ष के दौरान कृषक खेती करना छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में चले

जाते थे। यह सबसे बड़ा विद्रोह था। इसलिए किसान की मोबिलिटी पर प्रशासनिक प्रतिबन्ध लगाए जाते थे। मनु कृषकों पर जुर्माने को निर्धारित करने की बात करता है जो समय पर खेती नहीं करते या जानवरों से कृषि की रक्षा नहीं करते थे। तभी राजा को पूरा लगानप्राप्त हो सकता था। भारत में दास युग का मतलब किसानों के स्वतंत्र स्थान—परिवर्तन परप्रतिबन्ध लगाना था। यह भी संभावना हो सकती है कि कुछ लोग कृषि कार्य छोड़ अपने पुराने व्यवसाय में जाने लगे हो तो उन्हें रोकने के लिये यह नियम सोचे गये हो। गैर—कृषि कार्यों से कोई कर नहीं था, इसलिये राजनीतिक—प्रशासनिक क्षेत्रों में कोई चर्चा नहीं थी। यह संभव नहीं लगता कि खेती पर जातिय प्रतिबंध रहे हो। यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि मैनीयल जाति के लोगों का श्रम उत्पादन—प्रक्रिया में प्रयोग लाया जाता था। जमीन की अधिकता के बावजूद भी उन्हें जमीन पर स्वामित्व के अधिकार नहीं थे सभी जातियों के लोग खेती करते हैं। खेती को कभी अपवित्र नहीं माना गया। विवेकानन्द झा का कहना है कि कोई भी समकालीन प्रमाण उन्हें जमीन पर अधिकार करने से नहीं रोकता। किसी भी जाति के लिए खेती अस्पृश्य नहीं है। व्यवसाय चुनने की सामूहिक व व्यक्तिगत स्वतंत्रता हमेशा रही है। खेती सामूहिक व दस्तकारी—व्यापार व्यक्तिगत।

कृषि में पशुओं की सहायता से हल से खेती करने वाले समुदायों में भिन्न विश्वास जन्म लेने लगे। इससे पशुओं की भूमिका बदल गई। अब कृषक समुदाय ने पशु की बलि देना बन्द करना शुरू कर दिया। सुवीरा जायस्वाल ने इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया है *“जब पशुओं का वध बलि के लिए और भोजन के लिए छठी शताब्दी ईसा पूर्व के भौतिक वातावरण में अलोकप्रिय होना शुरू हो गया और पशुओं को न मारने ने पवित्र सिद्धान्त के चरण को प्राप्त कर लिया, पुजारी वर्ग भी इससे अप्रभावित नहीं रह सकता था।”* शाकाहार नियम बन गया। कृषि पर आश्रित समुदाय अगर शाकाहारी भोजन को पवित्र मानते थे तो दूसरे लोग अभी मांसाहार से अपना गुजारा करते थे। मांसाहार घृणा व अपवित्रता का पात्र बन गया। भोजन की आदते भी भिन्नता का कारण थी। दक्षिण भारत में मौजूदा समय की अछूत कही जाने वाली जातिया मृत गाय का मांस भी खाती है। महार व पारायियार ऐसी ही जातिया है। इसलिए अस्पृश्यता के कारणों को ढूँढने के लिये भोजन की आदते की भी समीक्षा करनी चाहिए। कृषक समुदाय की संख्या बढ़ने से या दूसरे समुदायों के कृषक समुदाय बनने पर कृषि योग्य जमीन बढ़ती गई। जंगल कम होते गये। जंगल पर आश्रित लोग अपना स्थान बदल कर दूसरे क्षेत्रों में चले गये। उन्होंने जंगलो के काटने का विरोध नहीं किया क्योंकि वे जन—जातीय मान्यताओं से जूड़े थे जिसमें जमीन पर सभी का हक होता था।

भारतीय समाज इस प्रकार के समुदायों का संघ रहा है। इन्हीं समुदायों के विकसित रूप को हम जाति कह सकते हैं। जहां का सदस्य बनना जन्म पर निर्भर करता था। विवाह संस्था व अन्य रिवाजों के विकास ने समुदायों के बीच भिन्नता को स्थाई रूप दिया। इन परम्पराओं में जन—जातीय अवशेष थे। आखिरकार इन का भी विकास जन—जाति से हुआ था। घुर्ये के अनुसार जातियों के आचार के नियम अलग—अलग हैं। इनमें सांस्कृतिक खाई है। इनके अपने—अपने देवता हैं। विवाह और मृत्यु के अपने—अपने रिवाज हैं।

भारत में श्रम को बचाने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई, इसलिए तकनीक में ऐसी खोजें नहीं हुई जो श्रम को बचाती हो या अधिक उत्पादन करती हो। कम जमीन से, पिछड़ी तकनीक व कम श्रम से निर्वाह के लिए पर्याप्त उत्पादन किया जाता रहा है। भारत में उत्पादन तकनीक को कभी चुनौती की जरूरत नहीं रही। परिणामस्वरूप भारत में कभी क्रान्ति नहीं हुई और लोग लगातार भाग्यावादी बने रहे हैं। भारत में राज्य के स्वरूप की व्याख्या भी जटिल है। इसे प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर नाम देना मुश्किल है लेकिन बर्णन करना आसान है। इसे लगान इकट्टा करने वाला कहा जा सकता है जो कि उत्पादन प्रक्रिया से बाहर रहा है। शान्ति और व्यवस्था का काम भी राज्य करता रहा है परन्तु समुदाय ने हमेशा से इस क्षेत्र में बड़ी भूमिका निभाई है। इनके मुखिया या परिषद अपने-अपने रीति-रिवाजों के आधार शान्ति-व्यवस्था का नियमन-नियन्त्रण करते रहे हैं।

उत्पादन प्रक्रिया के लिए उत्पादन के साधनों, श्रम की कमी नहीं है। उत्पादन प्रक्रिया में कभी संकट उत्पन्न नहीं हुआ। उत्पादन प्रक्रिया को नियंत्रण करने के लिए संघर्ष पैदा नहीं हुआ। उनमें तेजी से विकास की जरूरत महसूस नहीं हुई। शासक वर्ग व कृषक के बीच कभी संघर्ष नहीं है। उनके बीच संतुलन था। वेशी मूल्य का उपयोग गैर-आर्थिक गतिविधियों के लिए किया जाता था। उत्पादन प्रक्रिया के लिए व लगान के लिए जातिगत विवरण मुश्किल से प्रयोग में लाये गये। उत्पादन-प्रक्रिया में संघर्ष व संकट उत्पन्न नहीं हुआ। भारत में उत्पादन के साधनों और साथ ही उत्पादन प्रक्रिया में संकट की जानकारी नहीं है। उत्पादन प्रक्रिया का स्वभाव इस प्रकार से था कि आर्थिक संकट के परिणाम स्वरूप सामाजिक संकट उत्पन्न नहीं हुआ। कृषक बनने की प्रक्रिया बिना किसी योजना के जारी रही। भारत में योजना बना कर काम करने की प्रवृत्ति नहीं रही है। यह बात यहां के वास्तुशास्त्र में, युद्ध प्रणाली, गाँव की वसावट में देख सकते हैं। जब निचले तबके के लोगों ने अपने नियत काम करने से मना कर दिया तो उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हुआ। इसलिए तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक ढांचों को तोड़नेकी आवश्यकता महसूस नहीं हुई। लम्बे व लगातार परिवर्तन, बिना ढांचों को तोड़े लगातार चलते रहे। प्रशासनिक ढांचा एकीकृत नहीं था। परम्परागत भूमि-व्यवस्था में जमीन पर व उपज पर किसानों का हक था। शासक प्रयास कर फसल का एक हिस्सा के सकता था। वह वहीं से लगान इकट्टा कर पाता था जहां तक वह पहुंच पाता था। बाकी के इलाकों में कबीला या वरादरी के नियम चलते थे। सरकारी कोष को भरने के लिए कृषि से लगान ही मुख्य था। लेकिन ब्रिटिश काल से पहले की जो जानकारी प्राप्त होती है उसके अनुसार किसानों से बहुत अधिक धन वसूला जाता था। उन्हें एक तरह से लूट लिया जाता था। कोई नियम नहीं था, न ही कोई लगान की दर तय थी। निश्चित जमीन के आधार पर निश्चित माल गुजारी देने की प्रणाली अभी शुरू नहीं हुई थी। किसानों से निर्दयता के साथ नजराना बसूला जाता था। डा. बुकानन के अनुसार, *"मुगल शासकों के अधिकारियों द्वारा उनसे प्रायः जबरदस्ती संपत्ति वसूली जाती थी।"* मुद्रा का प्रचलन कमजोर था। राज्य का उत्पादन-प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं था। लगान व अन्य करों में हमें जाति-आधार नजर नहीं आते। भारत में इकट्टे परिवर्तन नहीं हुए। ऐसी खोजे लगातार व इकट्टी नहीं हुई जो समाज में उथल-पुथल पैदा कर दे। जिससे नई राजनीतिक

व्यवस्था का उदय हुआ हो। यह नतीजा निकालना आसान था कि भारत का समाज व अर्थव्यवस्था अपरिवर्तनीय है। सारे ऐतिहासिक चरणों के उपलब्ध होने के कारण ऐसे नतीजे निकालना और भी आसान था।

काल मार्क्स ने पूंजी के प्रथम खण्ड में ऐशियाई उत्पादन पद्धति की व्याख्या की है। जिसके अनुसार भारतीय गाँव प्राचीन काल से बिना परिवर्तन के रहे हैं। उनके अनुसार *“कृषि और दस्तकारी के मिश्रण से, और बदलाव के बिना श्रम विभाजन, जिसने, जब कभी भी नये समुदाय शुरू होने पर एक योजना और नीति तैयार की हुई थी.....ऐशियाई राज्य और वंशों में बदलाव के बावजूद ऐशियाई समाज बिना परिवर्तन के रहे।”*

भारत में ग्राम समुदाय एक लम्बे व निरन्तर काल तक दूसरे समुदायों से अलग रहा है। इस दौरान समुदाय का विश्व दृष्टिकोण भी उभरा। उसकी अपनी दूनिया उसकी जमीन, जंगल, नदी, पहाड और ग्राम आदि था। जंगल के, नदी के या पहाड के उस पार के बारे में उसके मन में जो कल्पनाये थी उनमें डर था। भूत, प्रेत, चूडैल, आत्मा, परमात्मा भी उसके दर्शन में थे। दूसरे समुदाय के बारे में उसके मन में कई धाराणाये थी। उसका ग्राम देवता उनकी सहयता करता है। कृषि में व बुरी आत्माओ से सुरक्षा करने में। उसके अपने विश्वास उसकी दूनिया थे। ये उनको आपस में बांधे भी रखते थे और दूसरे समुदायों से अलग भी रखते थे।

उपरोक्त बातचीत से हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि भारत में ऐसी भौतिक स्थितियां थी जो जनजातियों व ग्राम समुदाय को स्वतंत्रता प्रदान करती थी। जैसे भूमि की अधिकता से भूमि सम्पत्ति में शामिल नहीं रही है। कोई भी जमीन साफ करके कृषि शुरू कर सकता था क्योंकि इसमें सामुहिक श्रम की आवश्यकता थी इसलिए सामुदायिक प्रयत्न आवश्यक थे न कि व्यक्तिगत। भूस्वामी या जमींदार से अभिप्राय हम जिन अर्थों में हम आज लेते हैं ब्रिटिश काल से पहले वह अस्तित्व में नहीं थे। इसलिए जमीन सोपानात्मक अवधारणा का आधार नहीं थी। ग्राम समुदाय स्वतंत्र था उसपर न तो राज्य का नियंत्रण था, न संगठित धर्म का। वह तो अपने रिवाजों, परम्पराओं, विश्वासों से नियंत्रित था। इसलिए ब्राह्मणीय ग्रन्थों का उनके लिए कोई मान्यता नहीं थी।

संदर्भ:-

1. लोकायत – देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय
2. मिथ एण्ड रियेलिटी – डी.डी. कौशाम्ब
3. आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद व राष्ट्रवाद। – विपिन चंद्र
4. इतिहास की पूर्व पीठिका – रोमिला थापर
5. विलेज़ इन इण्डिया – स्टीफल पी. ह्यूलर
6. द क्रीटिक ऑफ पोलिटीकल इकोनोमी – रजनी पाम दत्त